

चित्प्रकरण

एवं सत्प्रकरणम् उक्त्वा चित्प्रकरणम् आह जीवस्तु इति.

जीवस्त्वाराग्रमात्रो हि गन्धवद् व्यतिरेकवान्॥

‘तु’शब्दः प्रकरणभेदकः. जीवस्य आदौ परिमाणम् उच्यते आराग्रमात्रइति. “आराग्रमात्रो ह्यपरोपि द्रष्टः” (श्वेता.उप.५।८) इति श्रुतेः. व्रीहेः अग्रभागः आरः. ननु एतावांश्चेत् कथं सर्वदेहव्यापिचैतन्योपलम्भः? तत्र आह गन्धवद् व्यतिरेकवान् इति. विशेषेण अतिरिच्यते इति व्यतिरेको द्रव्यापेक्षया अधिकदेशः. यथा गन्धः पुष्पापेक्षया अधिकदेशं व्याप्नोति तथा चैतन्यगुणः सर्वदेहव्यापी इति अर्थः. गन्धवतः कमलादेरिव वा स्थूलगुणयुक्तः. नतु तदन्यथानुपपत्त्या तावत्परिमाणः.

आगें चित्प्रकरणको प्रारम्भ करे हैं. या प्रकरणमें जीव व्यापक हे, सब ठिकानें विद्यमान हे, वो कैसे भक्ति करि सके हे? एसें कहिवे वारे वादीकी शङ्का दूर करिवेके अर्थ जीवके धर्म कहे हैं.

जीव आराग्रमात्र हे. अर्थात् छिलका सहित चांवलकी आगेकी तीखी नोंकके बराबर जीवको स्वरूप हे. जेसे फूल छोटी होय हे परन्तु वाको सुगन्ध गुण आखे वनमें फैल जावे हे एसे ही जीव तो अणु हे अर्थात् अत्यन्त छोटी हे परन्तु वाको चैतन्यगुण-चेतनपनो जितनों बड़ी देह होवे हे उतने बड़े देहमें सब ठिकानें फैल जावे हे. ये बात “व्यतिरेको गन्धवत्” (ब्रह्म-सूत्र२।३।२६) या व्याससूत्रमें लिखी हे.

यहां कितनेक जैनमतके एकदेशी एसे कहे हैं कि आखे शरीरमें सब ठिकानें चैतन्य मालुम पड़े हे तासों जितनो बड़ी देह होवे हे उतनों ही बड़ी देहके भीतर जीव रहे हे एसें माननों. ताको ये उत्तर हे कि चैतन्यगुण आखे शरीरमें फैल जावे हे परन्तु जीव तो अणुमात्र होय हे. यदि जीवकु मध्यम परिमाण वारो मानोगे तो देह जितनों ही बड़ी जीव माननो पड़ेगो. तो देह जेसे अनित्य हे एसें जीवकु भी अनित्य माननो पड़ेगो. कदाचित् जीवकु भी अनित्य मान लोगे; अर्थात् देहके साथ ही जीव बन जावे हे, देहके साथ ही जीव मिट जावे हे-एसे कहोगे तो जनमतो बालक भूख मिटायवेके अर्थ स्नान पीवेमें प्रवृत्त होवे हे सो तुम्हारे मतके हिसाबसों नहिं बन सकेगो. क्योंके वाकु कहां याद हे के “एसें स्नानपान कियो जाय” तथा “स्नान पीवेसों मेरी भूख मिट जायगी”. ओर हमारे सिद्धान्तसों तो जीव अनेक देह धारण करतो आयो हे तथा अनेक जन्ममें भूख मिटायवेके अर्थ स्नान पीतो आयो हे, वाकी याद हे तासों वा अभ्याससों बालक या जन्ममें भी स्नान पीवेमें प्रवृत्त हो जावे हे. ओर प्रेत-भूत अपने पहले जन्मकी भी सब बात कहे हैं तासों भी मालुम पड़े हे के जीवको देहके साथ नाश नहिं होय हे. जीव नित्य हे. ओर देह जितनो बड़ी ही जीवकु मानोगे तो शरीर अनेक हैं, सब ही शरीरन्में कर्मके आधीन होयके जीवकु जानो पड़े हे, तब हाथीकी देहके बराबरको हाथीको जीव चिंटीमें कैसे माय सकेगो? ओर शरीरके साथ ही जीव छोटी-बड़ी हो जाय हे एसे कहोगे तो शरीरको जेसे नाश मानो हो तेसे जीवको भी नाश माननो पड़ेगो. जो कहोगे जीवमें छोटेपनो-बड़ेपनो आदि सब परिमाण हैं तो ये बात लोकविरुद्ध हे. जगतमें एक वस्तुको एक ही परिणाम होवे हे. ओर यदि जीवकु शरीर जितनो ही बड़ी मानोगे तो जीवकु अवयव वारो माननो पड़ेगो. अवयव वारो पदार्थ अनित्य होय हे एसे जीव भी अनित्य होयगो. एसे अनेक दूषण हैं. तासों शरीरके बराबर जीवकु नहिं माननो, जीवकु अणु जितनो ही माननो.

अब जीवकु व्यापक माने हैं वाको खण्डन करे हैं. वादी कहे हे अनेक पदार्थ जीवके भोगवेके अर्थ अनेक देशन्में उत्पन्न होवे हैं. अनेक उत्पन्न होयवेमें जीवको अदृष्ट अर्थात् धर्म-अधर्म ही कारण हे. धर्म-अधर्म जीवात्मामें रहे हैं तासों जहां-जहां जीवके भोगवेके अर्थ पदार्थ उत्पन्न होवे हैं वहां-वहां धर्माधर्म सहित जीव विद्यमान हे. अर्थात् अदृष्ट धर्माधर्म

सहित जीवको संयोग ही है. जीवके भोगवे योग्य पदार्थ बनवेमें कारण है. ओर सब ठिकाने जीवको संयोग रहनो जीवकु व्यापक माने विना नहीं बन सके है तासों जीवकु व्यापक माननो.

श्रीआचार्यजी आज्ञा करे हैं जीवकु व्यापक मानोगे तो सब ही जीव सब ठिकाने विद्यमान हैं. तहां जितने मूर्तिवाले पदार्थ हैं उन सबके साथ जीवन्को संयोग है. ओर सबहीके मन देह इन्द्रियन्के साथ सबही जीवन्को संयोग है एसो माननो पड़ेगो. तब तो सब जीवन्कुं अद्रष्ट करिके इकसार ही सुख-दुःख होने चाहिये सब ही जीवन्कुं सब ही पदार्थन्को भोग होनो चाहिये ऐसे, परन्तु, होवे तो नहीं है. जा जीवके जे नियत भोग हैं उन भोगन्कुं ही वो जीव भोगे है. जीवकु व्यापक मानोगे तो ये बात नहीं बन सकेगी.

विवादी कहे है : व्यापक पदार्थके गुण जहां-जहां असमवायी कारण रहे है वहां ही रहे हैं. अर्थात् जीव व्यापक है तासों कहा भयो, मन तो अणु जितने है. जा ठिकाने मन जीवसों लगे है वाही ठिकाने जीव पदार्थको मनके द्वारा भोग कर सके है. सब ही पदार्थको भोग नहीं कर सके है.

श्रीआचार्यजी आज्ञा करे हैं : ठीक, जहां-जहां मनको संयोग हो रह्यो है वहांके भोगन्को तो अनुभव होनो चाहिये, जेसे 'देव-दत्त' नामके मनुष्यने आम्रको भक्षण कियो तो वाकु एसो ज्ञान होवे है कि "मेने मुखसों आम्रफलको भक्षण कियो". ऐसे ही सब ही जीवन्कुं ये अनुभव होनो चाहिये जो "हमने देवदत्तके शरीर करिके आम्रफलको भक्षण कियो". क्योंकि जीवकु व्यापक मानोगे तो देवदत्तके जीवको देवदत्तके मनके साथ संयोग है वाही प्रकार सब ही जीवको देवदत्तके मनके साथ संयोग है एसो माननो पड़ेगो. ओर जेसे एक मनुष्यकु "पांवमें मेरे सुख है"—"मस्तकमें मेरे पीडा है" ये ज्ञान होवे है. वेसे ही "यज्ञदत्तके शरीरमें मोकुं सुख हो रह्यो है"—"विष्णुमित्रके शरीरमें मोकुं दुःख हो रह्यो है" एसो ज्ञान होनो चाहिये. याही रिति सब ही जीव सर्वज्ञ हो जाने चाहिये.

विवादी : जा आत्माको जो शरीर है वा शरीरसों ही वो भोग कर सके है. अन्य शरीरसों भोग नहीं करि सके है क्योंकि वा आत्माको जो धर्मा-धर्मरूप अद्रष्ट है सो वा आत्माको अन्य शरीरमें भोग नहीं करिवे देवे है.

श्रीआचार्यजी आज्ञा करे हैं : जब आत्मा अन्य शरीरमें भोग नहीं कर सके है तथा अन्य शरीरन्के वृत्तान्तकु भी नहीं जान सके है तब आत्माको सब ठिकाने व्यापक माननो वृथा ही भयो. किन्तु देह जितनो बडो होय उतनो ही बडो आत्मा माननो पड़ेगो तब तो मध्यम परिमाण वारो होयवेसों जेसे देह अनित्य है तेसे आत्माकु भी अनित्य माननो पड़ेगो. यदि आत्माकु व्यापक तथा नित्य मानो हो तो जेसे अपने शरीरसों अनेक पदार्थ भोग करे हैं तेसे अन्य शरीरन्सों भी अनेक पदार्थको भोग माननो पड़ेगो. या प्रकारसों तुमारे मतमें प्रत्यक्ष विरोध आयो क्योंकि लोकमें जीव जितने हैं वे सब अपने-अपने शरीरकरिके ही विषयभोग करते दीखे हैं. दूसरेके शरीरसों विषयभोग करते नहीं दीखे है. किञ्च देवदत्तके शरीरसों जो आम्रभक्षणको अनुभव भयो है वाको यज्ञदत्तकु भी "मेने आम्रभक्षण कियो" एसो स्मरण रहनो चाहिये.

विवादी : जा ठिकाने अनुभव होय है वाही ठिकाने स्मरण होय है तासों देवदत्तके चाखे भये आमको देवदत्तकु ही स्मरण होयगो, यज्ञदत्तकु नहीं होय सके है.

श्रीआचार्यजी आज्ञा करे हैं : जा ठिकाने अनुभव होय वाही ठिकाने स्मरण होय एसो नियम नहीं है. देखो रूपको अनुभव आंखसों होय है, स्पर्शको अनुभव हाथसों होय है. परन्तु "मेने कदम्ब देख्यो हतो"—"मेने पीताम्बरको स्पर्श कयों हतो" एसो

स्मरण आंखकु तथा हाथकु छोडके हृदयमें जाय होय हे. यामें “जो वस्तु मेने हाथसों स्पर्शकरी”-“जो वस्तु मेने आंखसों देखी विनको में स्मरण करुं हुं” या प्रकारको अनुव्यवसाय ही प्रमाण हे.

विवादी : एक देहमें अनुभव अन्य ठिकाने होय तथा स्मरण अन्य ठिकाने होय ये बात तो बन भी सके हे परन्तु अनुभव अन्य देहमें होय तथा स्मरण अन्य देहमें होय ये बात नहीं बन सके हे. कयोंके जा देहमें अनुभव होय वाही देहमें स्मरण होय एसो नियम हे.

श्रीआचार्यजी आज्ञा करे हैं : अनुभव-स्मरण एकही देहमें होवे हैं ये भी नियम नहीं सम्भव सके हे कयोंके कितने मनुष्यनकु पहले जन्मकी देहमें जिन पदार्थनको अनुभव कियो हे वाको स्मरण या देहमें हो जावे हे. कयोंकी देह दूसरी हे परन्तु आत्मा तो एक ही हे. या ही रीतिसों आत्माकों व्यापक मानोगे तो सब देहन्के विषयभोगको स्मरण देवदत्तकु होनो चाहिये. कयोंकी सब देहन्में देवदत्तके आत्माको सम्बन्ध हे. तथा पहिलेकी जीवात्मा अपनी देहमें ही विषयभोग कर सकेहे अन्य देहन्में अद्रष्ट अर्थात् धर्माधर्म जीवात्माकु विषयभोग नहीं करिवे देवे हे ये भी बात तुमारे मतमें नहीं सम्भव सके हे. कयोंके आत्मा सर्वत्र विद्यमान हे, सबहीके आत्माको सबहीके मनके साथ संयोग हे. तब तो आत्म-मन : संयोगसों भयो जो प्रयत्न तथा प्रयत्नसुं भयो जो कर्म, वासों भयो जो धर्माधर्मरूप अद्रष्ट सो भी सब जीवन्को समान भयो. तब तो सबनकुं समान सुख-दुःख होने चाहिये. तथा जेसे देवदत्त यज्ञदत्तकी देहसों विषयभोग नहीं कर सकेगो, कयोंके अद्रष्ट सबके समान होयवेसों, जो अद्रष्ट देवदत्तके भोग करिवेमें प्रतिबन्धक हे वो ही अद्रष्ट यज्ञदत्तके भोग करिवेमें प्रतिबन्धक हो जायगो. जीवात्माकों व्यापक मानोगे तो ईश्वरके आधीन भी जीव नहीं रहेगो, कयोंके जेसे भगवान् व्यापक नित्य चैतन्य हैं वेसे ही जीव भी व्यापक नित्यचेतन होयवेसों वो ईश्वरके समान आपुनको मानेगे. तासों वेदादिकन्के अनुसार जीवकु अणुरूप ही माननो. जीवमें चैतन्य गुण हे सो विसर्पी हे. अर्थात् फैलवेकी सामर्थ्य वारो हे. जितनी बडी जीवकु देह मिले हे वितनेमें फैल जावे हे. विसर्पीचैतन्य गुणको निरूपण प्रस्थानरत्नाकरमें स्पष्ट लिख्यो हे.

विवादी : जीवात्माकु अणु मानोगे तो आत्माके ज्ञान, सुखदुःखादिकको प्रत्यक्ष नहीं होय सकेगो कयोंके अणुके गुण अतीन्द्रिय होवे हैं.

श्रीआचार्यचरण आज्ञा करे हैं : जे ज्ञान-सुखादिक जन्य हैं वे आत्माके धर्म नहीं हैं, वे सब मनके धर्म हैं. तामें श्रुति प्रमाण हे “कामः सङ्कल्पः श्रद्धा अश्रद्धा हीर्धीर्भीरिति सर्व मन एव” इति. ओर प्रत्यक्ष होयवेमें योग्यताकी ही कारणता हे.

विवादी : आत्माकुं अणु मानोगे तो अणुको तो प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होवे हे. जेसे “में हुं” या प्रकारको आत्माको भी प्रत्यक्ष-ज्ञान नहीं होनो चाहिये. तथा योगीनकु आत्मा प्रत्यक्ष दीख आवे हे सो भी नहीं दीखनो चाहिये.

श्रीआचार्यजी आज्ञा करे हैं : “में हुं” ये जो प्रत्यक्षज्ञान हे सो देहसम्बलित आत्माको हे, केवल आत्माको प्रत्यक्ष नहीं होवे हे. योगी लोग तो योगजधर्मसों अणुको भी प्रत्यक्ष करले हैं वेसे ही आत्माकों भी अलौकिक प्रत्यक्ष विषय करले हैं. तासों वेद परमाप्त हे. वेदमें आत्माकु अणुपरिमाण वारो लिख्यो हे उतनो ही माननो.

विवादी : आत्मा तो व्यापक ही होयगो. वेदमें तो अणुकी उपमा मात्र दीनी हे. अर्थात् जेसे अणु बहुत परिश्रमसों जान्यो जाय हे एसे आत्माभी परिश्रमद्वारा चित्त शुद्ध होय तब जान्यो जाय हे.

श्रीआचार्यजी आज्ञा करे हैं : वेदमें जूठो वर्णन नहीं होय हे. ओर यदि एसो ही वेदको अभिप्राय होय तो “वालाग्रशतभागस्य” (श्वेता.उप.४।१९) या श्वेताश्वतरकी श्रुतिमें वालाग्रके शतभागके शतभागको एक हिस्सा जीवको परिमाण लिख्यो हे सो एसे विस्तारसों क्यों वर्णन करते दुर्ज्ञेयता तो अणुमात्रके कथनसों ही सिद्ध होय जाती.

वैदिके शास्त्रे वाचनिक्येव व्यवस्था. नापि अवान्तरपरिमाणेऽपि अनित्यता भवति. यथा भगवतः प्रादेशमात्रस्य अङ्गुष्ठपर्वमात्रस्य हंसाकृतिः तथा आराग्रमात्रेव हंसाकृतिः.

वैदिक शास्त्रमें वेदके वचन करिके ही व्यवस्था करनी, लौकिक युक्तिसों वेदोक्त प्रमेय नहीं जान्यो जावे हे ये ही “श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्” (ब्रह्मसूत्र२।१।२७) या व्याससूत्रमें वेदव्यासजीको सिद्धान्त हे. वैदिक रीतिसों आराग्रमात्र जीवको मानोगे तो अवान्तर परिमाण होयवेसों अनित्य होयगो इत्यादि दूषण भी हमारे मतमें नहीं हे क्योंकि या मतमें वेदवाक्यन्सों व्यवस्था हे, वेदविरुद्ध युक्ति अप्रमाण हे. जेसे वेदमें भगवान्को स्वरूप कहीं अङ्गुष्ठमात्र, कहीं प्रादेशमात्र, कहीं हंसाकार, कहीं हंसरूप होयके पुरमें अर्थात् शरीरमें प्रवेश वर्णन कियो हे वहां चिंटी आदि शरीरमें प्रादेशमात्र परमात्मा केसे रहेतो होयगो? तथा परमात्मा नानापरिमाण वारो केसे हो जावेहे? इत्यादि तर्कना नहीं होवे हे. एसे ही भगवदंश जीवात्मा आराग्रमात्र होयके भी नित्य हे या विषयमें भी तर्क नहीं चलावनो.

ननु “नित्यः सर्वगतः स्थाणुः” (भग.गीता२।२४) इति वाक्याद् व्यापको भविष्यति इति आशङ्क्य आह व्यापकत्वश्रुतिस्तस्य इति.

व्यापकत्वश्रुतिस्तस्य भगवत्त्वेन युज्यते॥५३॥

भगवदावेशे भगवद्भर्माः व्यापकत्वादयः तत्र श्रूयन्ते नतु जीवो व्यापकः॥५३॥

ओर गीताजीमें “नित्यः सर्वगतः स्थाणुः” (भग.गीता२।२४) या श्लोकमें जीवको व्यापक लिख्यो हे सो तो जब भगवान्को आवेश या जीवमें आवे हे तब भगवान्के व्यापकत्वादिक धर्म भी जीवमें आय जावे हैं. वे धर्म भगवान्के ही हैं, जीवके नहीं हैं. जेसे लोहके गोलामें अग्नि घुस जावे हे तब लोहको गोला भी जलायवे लग जावे हे परन्तु जलावनो लोहके गोलाको गुण नहीं हे, अग्निको ही गुण हे. याही रिति जीव जब ब्रह्मज्ञानी होवे हे तब ब्रह्मके आवेश होयवेसों ब्रह्मरूप हो जावे हे. तब व्यापकत्वादि धर्म भी प्रकट हो जावे हैं॥५३॥

ननु वेदे “ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति” (मुण्ड.उप.३।२।९) इति वाक्याद् आराग्रमात्रत्वं न वास्तवम्, इति चेत्, तत्र आह आनन्दांशाभिव्यक्तौ इति.

आनन्दांशाभिव्यक्तौ तु तत्र ब्रह्माण्डकोटयः॥

प्रतीयेरन् परिच्छेदो व्यापकत्वं च तस्य तत्॥५४॥

ब्रह्मत्वेपि न अधिकपरिमाणता वक्तव्या. अण्वपि ब्रह्म व्यापकं भवति. यथा कृष्णो यशोदाक्रोडे स्थितोऽपि सर्वजगदाधारो भवति तथा जीवस्यापि आनन्दांशः चेद् अभिव्यक्तः तदा तस्मिन् ब्रह्माण्डकोटयो भवन्ति. अतएव परिच्छेदेऽपि व्यापकत्वसिद्धेः न तदनुरोधेन अधिकपरिमाणत्वम् अङ्गीकर्तव्यमिति आह परिच्छेदो व्यापकत्वं च तस्य तद् इति. अलौकिकेषु धर्मेषु प्रमाणमेव अनुसर्तव्यं, न लौकिकी युक्तिः. अतो व्यापकत्वेऽपि न आराग्रमात्रत्वं दोषाय॥५४॥

जब जीवको आनन्दांश प्रकट होवे हे तब जीवमें क्रोडन ब्रह्माण्ड प्रतीत होयवे लगे हैं. परन्तु व्यापक होवे हे वा समयमें भी अणु जितनो ही जीवको परिमाण रहे हे. वहां अणु जीवमें क्रोडन ब्रह्माण्ड केसे प्रतीत होते होंगो? यों आश्चर्य नहीं करनो. श्रीभागवान् कृष्णचन्द्र छोटो रूप धारण करिके यशोदाजीकी गोदमें बिराजे हते वा समय छोटे रूपमें भी जगत् दिखायो

हे ऐसे ही जीवमें भगवान्को आवेश आवे हे तब भगवान्को आनन्दांश प्रकट होवे हे तथा आनन्दांशको धर्म जो विरुद्धधर्माश्रयता हे वो भी प्रकट होवे हे. तब अणुमात्र जीवमें भी क्रोड ब्रह्माण्ड प्रतीत होवे हैं. विरुद्धधर्माश्रय तो लोकमें कोई पदवी नहीं दीखे हे, ब्रह्मकु विरुद्धधर्माश्रय कैसे मानें? एसी शङ्का नहीं करनी. लोकमें तो कोई सर्वज्ञ-सर्वकर्ता भी नहीं दीखे हे तथापि वेदके कहेसों ब्रह्मकु सर्वज्ञ-सर्वकर्ता माने हैं. ऐसे ही “तदेजति तन्नैजति” (ईशावा.उप.५) या यजुर्वेदकी श्रुतिके अनुसार ब्रह्मकु विरुद्धधर्माश्रय भी माननो. अलौकिकधर्म लौकिकेन्द्रियादि प्रमाणन्सों नहीं जाने जावे हैं तथा लौकिकयुक्तिकी भी वहां सामर्थ्य नहीं चले हे. आगेके श्लोकमें जीवके प्रकाशक धर्मको निरूपण करेंगे॥५४॥

धर्मान्तम् आह प्रकाशकम् तच्चैतन्यम् इति.

प्रकाशकं तच्चैतन्यं तेजोवत्तेन भासते॥

प्रकाशकं तत्तद्रूपं, तस्य चैतन्यगुणो वा, तेन तेजोवद्भासते. ततो ज्योतिः प्रयोगो “वृत्रस्य देहान्निष्क्रान्तमात्मज्योतिः” (भाग.पुरा.६।१२।३५) इति, यथा “चैद्यदेहोत्थितं ज्योतिः” (भाग.पुरा.१०।७४।४५) इति. नैतावता तेजः प्रकृतित्वम्. तेजसोऽपि ब्रह्मप्रकृतित्वादेव तथात्वम्. अतएव न रूपवत्त्वादिकम् आशङ्कनीयम्.

लोकप्रमाणागोचरत्वं धर्मम् आह न प्राकृतेन्द्रियैर्ग्राह्यम् इति.

न प्राकृतेन्द्रियैर्ग्राह्यं न प्रकाश्यं च केनचित्॥

रूपाद्यभावात् सत्सन्निकर्षाभावाच्च, “यन्न स्मृशन्ति न विदुः” इति वाक्यात्. नापि केनचित् प्रकाश्यम्. यथा सूर्येण प्रकाशितो घटः चक्षुषाऽपि गृह्यते न तथा इन्द्रियग्रहणार्थं किञ्चित्प्रकाशकम् अस्ति इति अर्थः.

जीव अथवा जीवको चैतन्यगुण प्रकाशक हे, अर्थात् प्रकाश वारो हे, तासों तेज जेसो मालुम पडे हे. ताहीसों वेदपुराणन्में ज्योतिरूपसों वर्णन हे. भागवत्में भी वृत्रासुरकी देहसों तथा शिशुपालकी देहसों निकसतो भयो जीव ज्योतिरूप ही सबलोगन्कुं भासमान भयो. परन्तु जीवकुं दीपकके समान पञ्चमहाभूतान्तर्गत तेजस् तत्त्वसुं बन्यो भयो ज्योतिरूप नहीं मान लेनो. ब्रह्मधर्मरूप प्रकाश वारो हे तासों ज्योति जेसो प्रतीत होवे हे. जीव तो लौकिक इन्द्रियादिकन् करिके ग्रहण करिवेमें नहीं आवे हे. जेसे अन्धकारमें धरी वस्तु दिया-सूर्यादिद्वारा दीखवेमें आवे हे ऐसे जीवको स्वरूप दीया, सूर्य आदिद्वारा भी नहीं दीख सके हे.

ननु तर्हि “पश्यतां सर्वलोकानाम्” (भाग.पुरा.१०।१२।३५) इत्यादि कथम् उपपद्यते? इति चेत् तत्र आह योगेन इति.

योगेन भगवद्दृष्ट्या दिव्यया वा प्रकाशते॥५५-५६॥

त्रेधा तद्दर्शनम्. योगेन साधितं मनः पश्यति, दिव्यास्तु या भगवन्तं पश्यति, दिव्या ज्ञानदृष्टिश्च या तया. नान्यथा तद्दर्शनम् इति अर्थः॥५५-५६॥

तब ये शङ्का भई के शिशुपाल-वृत्रासुरके जीव निकसते समयमें सबन्कुं कैसे दीख गये? ताको उत्तर आगेके श्लोकमें लिखे हैं.

तीन रीतिसों जीवको स्वरूप दीखे हे. १. एकतो योग करिके साधित अर्थात् सधे भये मनद्वारा जीवकु देखे हैं. २. अथवा जिन नेत्रन्सों भगवान्के दर्शन करे हैं उन नेत्रन्सों जीवकु देख सके हैं, जेसे शिशुपालको जीव उनकी दृष्टिसों दीख्यो जिनकी दृष्टि भगवान्कुं देख रही हती. अथवा ३. दिव्यदृष्टिसों जीव दीखे हे जेसे वृत्रासुरको जीव दिव्यदृष्टि वाले देवतान्कुं दीखवेमें आयो॥५५-५६॥

एवं स्वमते जीवस्वरूपम् उक्त्वा “एकधा दशधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्” (ब्रह्मबि.उप.१२, त्रिपु-
रता.उप.५।१२) इति वाक्याद् ब्रह्मप्रतिबिम्बो ब्रह्माभासो वा जीवः इति कश्चिन् मन्यते, तन्मतनिराकरणाय आह
आभासप्रतिबिम्बत्वम् इति.

आभासप्रतिबिम्बत्वम् एवं तस्य न चान्यथा।।

यद्यपि तद्वाक्यं ब्रह्मवाक्यं, तेन एकं ब्रह्मैव नानारूपं चन्द्रदृष्टान्तेन उच्यते. एकस्य नानात्वमेव द्रष्टान्तार्थो न
प्रतिबिम्बत्वम्. “प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः” (भाग.पुरा.७।९।११) इत्यत्रापि तथा.

रूपस्पर्शादियुक्तस्य द्रव्यस्य रूपमात्रोपलम्भः प्रतिबिम्बः. क्रियाश्च. नतु धर्मस्पर्शो वा, तथा सति वलेन्दुः तं
प्रक्षिप्य तं स्मृशेत्. तत्र स्वाधारस्वभावानुविधायित्वे सति सम्मुखस्थितार्थानुविधायित्वेन प्रतीतियोग्यो हि प्रतिबिम्बः.
स च इतरविलक्षणः. अतः प्रतिबिम्बरूपम् एकं भगवतः स्वतन्त्रम् इति मन्तव्यम्. तत्रापि मानाद्यभावात् तदर्थं प्रयत्ना-
करणात्. अतएव “समो मशकेन समो नागेन” (बृहदा.उप.१।३।२२) इति श्रुतेः सर्वानुविधायकत्वमपि सङ्गच्छते.
अतो “मूलसेकः शाखायामपि गच्छति” इतिवत् प्रतिबिम्बेऽपि तथा भानम् अस्तीति एतावन्मात्रम् अभिप्रेत्य उच्यते.
आभासत्वं प्रतिबिम्बत्वं, नतु मुख्याभासवत् तस्य अलीकं स्वरूपम् इति अर्थः. “यदस्ति यत्रास्ति” (विष्णुपु-
राण२।१२।३८) इति वाक्याद् भगवतः सर्वं रूपम् उपपद्यते, नतु अन्यस्य इति भावः. यथा महाराजस्य सर्वरूपं सर्वा च
कृतिः न दोषाय.

आभासप्रतिबिम्बत्वे प्रयोजकं रूपम् आह आनन्दांशतिरोधानाद् इति.

आनन्दांशतिरोधानात् तत्तद्वत्तेन भासते।।५७।।

जीवरूपं तत्. एतत्तिरोधानाद् जीवत्वं भासते. तेन आनन्दांशेन आविर्भूतेन युक्तं यत् तद्वद् ब्रह्मवद् अवभासते
इति अर्थः. अंशद्वयस्य विद्यमानत्वात् सदंशस्फूर्तौ आभासत्वम्, उभयोः स्फूर्तौ प्रतिबिम्बत्वं, त्रितयस्फूर्तौ ब्रह्मत्वम् इति
निर्णयः, नतु लौकिकाभासत्वं, तथा सति अलीकता स्याद्. अतो मायावादव्यतिरिक्ताः तं तथा मन्यन्ते इति।।५७।।

मायावादीके मतमें ब्रह्मको प्रतिबिम्बरूप अथवा ब्रह्मको आभासरूप जीवकुं माने हैं ताको खण्डन करे हैं “आभास-
प्रतिबिम्बत्वम्” इति.

जीव हे सो ब्रह्मको आभासरूप तथा ब्रह्मको प्रतिबिम्बरूप नहीं होय सके हे. ओर ब्रह्मबिन्दूपनिषद्में “एकधा दशधा
चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्” (ब्रह्मबि.उप.१२) या वाक्यमें भी एक ब्रह्म नानारूप हो जावे हे जेसे एक चन्द्रमा जलके घडानमें
अनेक प्रकार वारो दीखे हे ये ही बात लिखी हे. अर्थात् एक ब्रह्मके अनेक रूप होयवेमें ही चन्द्रमाको द्रष्टान्त दियो हे. या
वाक्यसों जीव ब्रह्मको प्रतिबिम्ब हे ये बात नहीं सिद्ध होय सके हे. यदि श्रुतिको एसो अभिप्राय होय तो मुखको ही द्रष्टान्त
श्रुतिमें लिखते. यद्यपि ये वाक्य जीवप्रकरणमें हे तथापि अंश-अंशीकी अभेद भावना करायवेके अर्थ ब्रह्मको निरूपण या
वाक्यमें कियो हे. “एक एवहि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः, एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्” (तत्रैव) अर्थः एक पर-
मेश्वर अंशरूप करिके सब शरीरन्में अनेक रूपसों स्थित हे जेसे चन्द्रमा अंशरूप किरणन् करिके जलमें स्थित होय हे. किरण-
रूप जो चन्द्रमाके अनेक अंशरूप हैं वे अपने अंशी चन्द्रमासों जेसे अलग नहीं हैं ऐसे जीवरूप अंश भी अपने अंशी ब्रह्मसों
अलग नहीं हे. या ही प्रकार श्रीभागवतमें भी “प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः” (भाग.पुरा.७।९।११) या श्लोकमें मुखकी आभूष-
णादिकन्सों शोभा करी जाय तो वा मुखके प्रतिबिम्बकी विना ही कियें शोभा होय जावे हे ऐसे ही परमेश्वरकुं भक्ति करिके
सन्तुष्ट कियो जाय तो वाके अंशरूप जीवात्मा स्वतः सन्तुष्ट हो जावे हैं, जेसे वृक्षके मूलमें जल डारिवेसों शाखा स्वतः तृप्त
होय जावे हैं. अर्थात् जेसे प्रतिबिम्बित मुखकी शोभामें मुखकी शोभा प्रयोजक-कारण हे ऐसे ही परमात्माको प्रसन्न होनो
जीवनके प्रसन्न होयवेको कारण हे. ये ही बात “प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः” (तत्रैव) या श्लोकसों सिद्ध होवे हे. जीव परमा-
त्माको प्रतिबिम्ब हे ये बात सर्वथा नहीं सिद्ध होवे हे.

प्रतिबिम्ब पदार्थको यथार्थ स्वरूप लिखे हैं: जो पदार्थ दर्पण जलादिरूप जो आधार वाके जो स्वच्छता तथा मलिनता आदि धर्म उनके समानधर्म वारो होय ओर सम्मुखस्थित जो मुख चन्द्रमा आदि पदार्थ उनके भी समानधर्म वारो होय ओर प्रतीत होतो होय वाकों 'प्रतिबिम्ब' कहनो

ये प्रतिबिम्ब पदार्थ घटादिरूप सत्य सृष्टिसों तथा आभासादिरूप मिथ्या सृष्टिसों विलक्षण हे. भगवान् के जो अनन्तरूप हैं उन रूपनमें प्रतिबिम्ब भी भगवान् को एक स्वतन्त्र रूप हे. जेसे भगवान् के अन्य रूपनकी सङ्ख्या तथा परिमाण नहीं हैं तेसैं प्रतिबिम्बमें भी सङ्ख्या तथा परिमाण नहीं हैं. एक मुखके हजारन् प्रतिबिम्ब होय सके हैं तासों सङ्ख्याको नियम नहीं हे. याही प्रकार परिमाणको भी नियम नहीं हे. क्योंकि एक हाथके काचमें हाथीको प्रतिबिम्ब एक हाथमात्रको होय जावे हे तथा चार हाथके काचमें चार हाथको हाथीको प्रतिबिम्ब होय जावे हे. तथा "समो नागेन समो मशकेन" (बृहदा.उप.१।३।२२) इत्यादि श्रुतिनके अनुसार भगवान् हाथी, मच्छर तथा तीनलोकके सब पदार्थनके समान धर्म वारे हैं ये बात भी प्रतिबिम्बमें सङ्गत होवे हे. क्योंकि प्रतिबिम्ब हे सो हाथीके सम्मुख हाथी तथा मच्छरके सम्मुख मच्छर जेसो होय जाय हे. या रीतिसों सब पदार्थके समान होय सके हे.

शङ्का : प्रतिबिम्बकुं तो मायिक पदार्थ माने हैं तब भगवान् को रूपान्तर कैसे होय सके हे? उत्तर: "यदस्ति यन्नास्ति च विप्र-वर्य" (विष्णुपुरा.२।१२।३८) इत्यादि विष्णुपुराणादिकनके वाक्यनसों चतुर्दश भुवन, सत्पदार्थ तथा असत्पदार्थ सर्व भगद्रूप ही हैं ये सिद्धान्त सिद्ध होवे हे. भगवान् विना, क्योंकि, अन्य पदार्थ सर्वरूप नहीं होय सके हे तासों मायिक प्रतिबिम्बादिक भी आपके ही रूपान्तर हैं. मायिकरूप धारण करिवेमें आपकी कछु भी हानि नहीं हे. लोकमें भी चक्रवर्तीराजाके सब प्रकारके रूप तथा सब प्रकारके कार्य जब प्रशंसायोग्य ही समुझे जांय हैं, उनमें दोषबुद्धि कोईकी भी नहीं होय हे, तब सकल जगत् के नियन्ता भगवान् के सदसद्रूप धारणकरिवेमें दोषसम्भावना कैसे होय सके हे?

जब आपके मनमें मायिक-अमायिक सब ही पदार्थ भगवान् के रूप हैं तब मायिक प्रतिबिम्ब अथवा मायिक आभा-सरूप जीवकु मान लेवेमें आपकी कहा हानि हे?

उत्तर : जीवकुं यदि मायिक प्रतिबिम्बादि रूप मिथ्या ही मानोगे तो मोक्षके साधन बतायवे वारे सब शास्त्र व्यर्थ ही हो जायेंगे. किञ्च, वेदमें "योन्यथा सन्तमात्मानम्" या श्रुतिमें आत्माके अन्यथा ज्ञानीकु अर्थात् मनःकल्पित विपरीत स्वरूप मानिवे वारेकु महापापी कह्यो हे तासों जीवको जेसो स्वरूप होय तेसो ही माननो उचित हे.

व्याससूत्रादिकनमें जो आभासादिरूपता जीवकु लिखी हे ताको कारण ये हे: अनन्दांशको तिरोधान होय हे तब जीवत्व भासमान होय हे. मनुष्य जब देहकु अपनो स्वरूप माने हे तब "में स्थूल हुं"—"में कृश हुं"—"में गोरो हुं" इत्यादि आधि-भौतिक ज्ञान वाकु होय हे. तब या अवस्थामें सन्देशमात्रकी स्फूर्ति रहे हे, तब ब्रह्माभास या जीवकु कह्यो हे. जेसे कोई मनु-ष्यमें ब्राह्मणके सब धर्म-गुण नहीं होंय, केवल जातिब्राह्मण होय, वासों जेसे ब्राह्मणाभास कहे हैं. जब ये मनुष्य देहसों अलग अपने स्वरूपकु माने हे तब "में चेतन हुं" या प्रकारको आध्यात्मिक ज्ञान वाकु होवे हे. या अवस्थामें सत्ता तथा चैतन्य इन दोनो अंशनकी स्फूर्ति होवे हे तब या जीवकुं ब्रह्मको प्रतिबिम्ब शास्त्रमें कहे हैं, जेसे जातिब्राह्मणमें ब्राह्मणके कितनेक धर्म आय जावें तब वाकु ब्राह्मणसदृश कहे हैं. बिम्बके सदृशको नाम 'प्रतिबिम्ब' हे. जब भक्ति आदि साधन करिके आनन्दांश प्रकट होवे हे तब "सच्चिदानन्दरूप मैं हुं" एसी प्रतीति होवे हे. या अवस्थामें आधिदैविक ज्ञान याकु होवे हे तब या जीवकुं ब्रह्मरूप कहे हैं. या रीतिसों आभास-प्रतिबिम्ब ब्रह्मरूपत्वादिवोधक वाक्य जीवमेंचरितार्थ होवे हैं. लोकमें जेसे मायिक आभास-प्रतिबिम्ब होवे हे वेसो जीव नहीं हे. जीवकु यदि वेसो मानोगे तो जीवकु मिथ्या माननो पड़ेगो. मायावादी विना अन्य कोईको भी एसो मन्तव्य नहीं हे. ये मिथ्यावाद युक्तिविरुद्ध हे.

मिथ्यावादं युक्तिबाधितमेव दूषयति मायाजवनिकाच्छन्नम् इति.

मायाजवनिकाच्छन्नं नान्यथा प्रतिबिम्बते॥

अवश्यं प्रतिबिम्बसिद्ध्यर्थं व्यवधानं कल्पनीयम्. तन् मायादिकमेव भवतीति मायाजवनिकाच्छन्नं न प्रतिबिम्बते, यथा तिरस्करिण्यां विद्यमानायां पुरुषो न प्रतिबिम्बते.

‘मायाजवनिका’ या अंशको व्याख्यान कियो जाय हे. प्रतिबिम्ब सिद्ध होयवेके अर्थ कछु व्यवधान अर्थात् आकाश-शादिकन् करिके कछुक अन्तराय अवश्य माननो चाहिये. जेसे मुख तथा दर्पणके बीचमें आकाशको व्यवधान अवश्य राखनो पड़े हे ऐसे सृष्टिके पहिले आकाश नहीं प्रकट भयो तब कायको व्यवधान हतो? यदि मायाको ही व्यवधान मानोगे तो प्रतिबिम्ब पड़नो ही असम्भव होयगो. क्योंकि माया तो ब्रह्मके स्वरूपकी छिपायवे वारी तिरस्करिणी-टेराके समान हे. जेसे मुख ओर काचके बीचमें टेरा आय जावे तो मुखको प्रतिबिम्ब नहीं पड़े हे ऐसे ही मायाको व्यवधान होयवेसों ब्रह्मको प्रतिबिम्ब नहीं होय सकेगो.

दूषणान्तरम् आह तत्र वृत्तेः इती.

तत्र वत्तेर् द्वासुपर्णा श्रुतेरपि विरुद्ध्यते॥

गुहां प्रविष्टावित्युक्तेर् भगवद्वचनादपि॥५८॥

यो यत्र वर्तते स तत्र न प्रतिबिम्बते. उपरिस्थितएव भ्रान्त्या प्रतीतः आकाशः प्रतिबिम्बते. वस्तुतस्तु प्रभामण्डलस्त्रैव रूपवतः प्रतिबिम्बः. तथा भ्रान्त्या प्रतीतनीलरूपस्यापि गन्धर्वनगरवद् वस्तुसामर्थ्यात् तथा प्रतीतिः. सर्वथा दर्पणरेखावत् तत्र विधामानं न प्रतिबिम्बते.

दूषणान्तरम् आह “द्वा सुपर्णा श्रुतेः इति. “तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति (मुण्ड.उप.३।१।१) इति वाक्यात् प्रतिबिम्बस्य क्रिया, बिम्बस्य च तूष्णीम्भावो विरुद्ध्यते, प्रतिबिम्बक्रियायाः बिम्बाधीनत्वात्, एकत्रास्थितेश्च. श्रुत्या च तथा बोध्यतइति प्रतिबिम्बकल्पना श्रुतिविरुद्धा.

न्यायविरोधम् आह गुहां प्रविष्टौ इति. “गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्” (ब्रह्मसूत्र१।२।११). स्मृतिविरोधम् आह भगवद्वचनादपि इति. “ममैवांशो जीवलोके” (भग.गीता१५।७) इति. “उत्क्रामन्तं स्थितं वापि” (भग.गीता१५।१०) इति च॥५८॥

द्वितीय दूषण ये हे के जो पदार्थ जा पदार्थमें सदा रहेतो होय वा पदार्थको प्रतिबिम्ब नहीं होय हे, जेसे काचकी खुदी रेखाको वाही काचमें प्रतिबिम्ब नहीं पड़े हे. ब्रह्म तो व्यापक हे, सब ही पदार्थन्में सदा ही रहे हे. तासों वाको कोई पदार्थमें भी प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सके हे. यदि कहोगे के आकाश भी व्यापक हे तोहु वाको प्रतिबिम्ब जलादिकन्में केसे पड़े हे? ताको ये उत्तर हे:आकाशको प्रतिबिम्ब नहीं पड़े हे किन्तु रूपवान् प्रभामण्डलको ही जलादिकन्में प्रतिबिम्ब पड़े हे क्योंकि आकाशमें रूप नहीं हे. प्रतिबिम्बमें जो नीलरूप दीखे हे वामें आकाशके प्रतिबिम्बकी प्रतीतिकु तो भ्रमरूप ही जाननो. वस्तुस्वभाव करिके नीलरूप प्रतिबिम्बित हे एसी प्रतीति हो जावे हे. तुमारे मतमें ब्रह्म रूपादि रहित हे तासों ब्रह्मको प्रतिबिम्ब नहीं होय सके हे. यदि रूप रहित वस्तुको भी प्रतिबिम्ब होतो होय तो वायुको भी प्रतिबिम्ब होनो चाहिये

सारांश ये भयो के चक्षु करिके देखिवे योग्य होय ओर अव्याप्यवृत्ति होय वा पदार्थको ही प्रतिबिम्ब होय हे. अर्थात् जो वस्तु चक्षुद्वारा नहीं देखिवे योग्य हे ओर व्याप्यवृत्ति हे अर्थात् व्याप्य-पदार्थमें रहे हे वाको उन व्याप्य-पदार्थन्में प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सके हे. यद्यपि भगवान्के नेत्र देखि सके हैं परन्तु आपुनको अपनो स्वरूप दिखायवेकी भगवान्की इच्छा होय तबहि देखि सके हे, नेत्र अपनी सामर्थ्यसों भगवान्कु नहीं देखि सके हैं. तासों भगवान् चक्षुर्योग्य नहीं हैं. तुम तो ब्रह्मकु निर्धर्मक मानो हो, निर्धर्मक पदार्थको प्रतिबिम्ब नहीं हो सके हे तासों ब्रह्मको प्रतिबिम्ब पड़नो सर्वथा असम्भव ही हे.

अन्य दूषण कहे हैं “द्रा सुपर्णा सयुजा सखायौ” (मुण्ड.उप.३।१।१) या श्रुतिमें जीव-परमात्मा दोउ एक वृक्षपे बेठे हैं. जीव वा वृक्षके फलको भोग करे हे, परमात्मा नहीं करे हे ये बात लिखी हे. जीव यदि परमात्माको प्रतिबिम्ब ही होय तो परमात्माके फलभोग करे विना जीवात्मा कैसे फलभोग कर सके, क्योंकि प्रतिबिम्बकी क्रिया बिम्बके आधीन रहे हे. लोकमें भी देवदत्तके भोजनकरे विना देवदत्तके प्रतिबिम्बमें भोजन करिवेकी चेष्टा नहीं प्रतीत होवे हे. ओर बिम्ब-प्रतिबिम्ब दोनों एक देशमें भी नहीं रहि सके हैं, क्योंकि प्रतिबिम्ब काचमें रहे हे, वहां मुख नहीं रहे हे. जीव यदि प्रतिबिम्बरूप होय तो परमात्माको एक वृक्षपे जीवके साथ रहनो श्रुति नहीं वर्णन करती. एक शरीररूप वृक्षमें भी एकही देशमें जीव ओर अन्तर्यामी रहे हैं. “गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्” (ब्रह्मसूत्र१।२।११) या व्याससूत्रमें एक ही हृदयरूप गुफामें जीव-ब्रह्मकी स्थिति लिखी हे. एवञ्च, मुख्य स्मृति गीताजीमें “ममैवांशो जीवलोके” (भग.गीता.१५।७) या श्लोकमें जीव मेरो सनातन अंश हे ये लिख्यो हे. तथा “उत्क्रामन्तं स्थितं वापि” (भग.गीता.१५।१०) या श्लोकमें निकसते भये जीवकु ज्ञानद्रष्टि वारे देखे हैं ये लिख्यो हे. जीवकु लौकिक प्रतिबिम्बरूप मानोगे तो अंशत्व तथा उत्क्रमणक्रिया-निकसनो नहीं बन सकेगो तासों प्रतिबिम्बपक्ष श्रुति-स्मृति-न्यायसों विरुद्ध हे।।५८।।

एवं प्रमाणैः बाधित्वा युक्तिभिः बाध्यते जीवहानिः इति द्वाभ्याम्.

या प्रकारसों वेद, ब्रह्मसूत्र, गीता तथा भागवत रूप शब्दप्रमाण द्वारा जीवकुं प्रतिबिम्बरूप मानवेके मायावादाभिमत सिद्धान्तको बाध होवे हे ये दिखायके अब ये दिखाय रहे हैं के युक्तिन्सों भी जीवकु प्रतिबिम्ब मानवेको सिद्धान्त बाधित हे.

जीवहानिस्तदा मुक्तिर् जीवन्मुक्तिर् विरुद्ध्यते।।

लिङ्गस्य विद्यमानत्वाद् अविद्यायां ततोऽपि हि।।५९।।

प्रतिबिम्बपक्षे जीवहानिः मुक्तिः स्यात्. आत्महानम् अपुरुषार्थइति मोक्षस्य अपुरुषार्थत्वम् आपद्यते, अलीकता वा असुरब्रह्मविद्यायां स्थापिता. दूषणान्तरम् आह जीवन्मुक्तिर्विरुद्ध्यते इति. तत्र हेतुः “लिङ्गस्य विद्यमानत्वाद्” इति. क्व प्रतिबिम्बते इति वक्तव्यम्, अन्तःकरणे अविद्यायां वा? उभयोः अशुद्धत्वात् प्रतिबिम्बएव न उपपद्यते. अस्तु वा तथापि लिङ्गपक्षे उपाधेः विद्यमानत्वात् संसारएव, तदभावे परममुक्तिरेव, नतु कथञ्चित् जीवन्मुक्तिः इति अर्थः. ततोऽपि अविद्यायां प्रतिबिम्बो विरुद्ध्यते इति आह अविद्यायाम् इति।।५९।।

या श्लोकमें प्रतिबिम्बादिपक्षन्को युक्तिसों खण्डन करे हैं. जीवकुं प्रतिबिम्बरूप मानोगे तब तो जीवात्माको सर्वथा नाश हो जानों ही तुमारे मतमें मुक्ति भई. आत्माहानि अपुरुषार्थ हे. मोक्षकुं पुरुषार्थता नहीं भई. आसुर ब्रह्मविद्यामें अर्थात् नास्तिक चार्वाकादिकन्के मतमें आत्माकुं मिथ्या माने हे तेसो ही तुमारो पक्ष भयो. दूसरो दूषण ये हे के तुमारे पक्षमें जीवन्मुक्ति कछु पदार्थ नहीं भइ. क्योंकि तुमारे मतमें अन्तःकरणमें अथवा अविधामें ईश्वरप्रतिबिम्बको नाम ‘जीव’ भयो. जहां तांई अविद्या वा अन्तःकरणमें विद्यमान रहेगी तहां तांई संसार ही हे. जब अविधाको वा अन्तःकरणमेंसों सर्वथा नाश होयगो तब जीव परममुक्त ही हो जायगो, जीवन्मुक्त कोई भी जीवात्मा नहीं होयगो. तब तो वामदेव आदिकन्कुं वेदमें, शुकदेव आदिकन्कुं पुराणमें जीवन्मुक्त कहे हैं सो सब मिथ्या ही होयगो.

हमारे भगवत्सिद्धान्तमें तो जीवकुं भगवान्को अंश माने हैं. तासों जहां तक जीव अविद्याके आधीन रहे हे तहां तक संसारी कहावे हे. जब जीव अविधाके आधीन नहीं रहे तथा जेसें दिनमें निद्रा अपने कारणमें लीन रहे हे या प्रकार वा जीवकी अविधा अपने कारणमें लीन रही आवे तब वो जीवन्मुक्त कहावे हे।।५९।।

अथ जीवन्मुक्तो मुक्तएव इति चेत् तत्र आह अधिष्ठातुर्विनष्टत्वाद्इति.

अधिष्ठातुर् विनष्टत्वात् न देहः स्पन्दितुं क्षमः।।

देहः सपन्दितुं चलितुं न समर्थः स्यात्.

“दैवादुपेतमुत दैववशादपेतम्” (भाग.पुरा.११।१३।३६) इति न्यायेन चलति, इति चेत्, तत्र आह प्रारब्धमात्रशेषत्व इति.

प्रारब्धमात्रशेषत्वे सुषुप्तस्येव न व्रजेत्॥६०॥

तत्र अधिष्ठाता वर्ततएव परं न अनुसन्धत्ते. प्रारब्धं देहविद्यमानतामेव सम्पादयति न अधिकं भोजानादिकार्यं, सुषुप्तौ तथोपलम्भात्. तस्मात् जीवो न आभासो, न वा प्रतिबिम्बः॥६०॥

यदि जीवन्मुक्त हे सो मुक्त ही हे, जीवन्मुक्ति कोई अलग पदार्थ नहीं हे ऐसे कहोगे तो मुक्त दशामें जा प्रकार अधिष्ठाता जीवको नाश मानो हो तैसें जीवन्मुक्तके जीवात्माको भी नाश माननो पड़ेगो. तब तो जीवन्मुक्तको देह चलवेकुं समर्थ नहीं होनो चाहिये. शास्त्रमें शुकादिकन्की देहको चलनो प्रसिद्ध हे. कदाचित् कहोगे के अधिष्ठाता जीवात्मा नहीं रहे तासों कहा भयो, प्रारब्ध कर्मनके द्वारा जीवन्मुक्तकी देह चले हे, ताको ये उत्तर हे कि प्रारब्धकर्म देहकुं विद्यमान तो राख सके हे परन्तु देहकुं चलाय देनों अथवा भोजनादि कार्य करवाय देनं ये प्रारब्धकी सामर्थ्य नहीं हे. प्रारब्धकी यदि ये सामर्थ्य होय तो सुषुप्त अवस्थामें सोते भये मनुष्यकुं प्रारब्ध क्यों नहीं चलाय सके हे? तासों जीवन्मुक्तकी देहमें अधिष्ठाता आत्मा अवश्य रहे हे. देहादिकन्में, परन्तु, अध्यास नहीं रहे हे यासुं वाकुं अनुसन्धान नहीं रहे हे. इतने विस्तार करिके जीव आभासरूप वा प्रतिबिम्बरूप नहीं हे ये बात सिद्ध भई॥६०॥

ननु जीवब्रह्मणोः ऐक्यान्यथानुपपत्त्या “तत्त्वमसि” (छान्दो.उप.६।८।७) इत्यादिवाक्यानुरोधेन बिम्ब-प्रतिबिम्बयोः ऐक्यं युक्तमिति तथात्वं कल्प्यते इति आशङ्कां तिरस्कुर्वन् “तत्त्वमसि” इति वाक्यं न महावाक्यम् इति आह तत्त्वमसि इति.

तत्त्वमस्यादिवाक्यस्य शोधितस्यापि युक्तितः॥

न विद्याजनने शक्तिः अन्यार्थं तच्च कीर्तितम्॥६१॥

इदं वाक्यं श्वेतकेतूपाख्याने वर्तते. तत्र उपक्रमे “अपि वा तमादेशमप्राक्षो, येनाश्रुतं श्रुतं भवति” (छान्दो.उप.६।१।२-३) इत्यादिना एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञातम्. तदेकमेव चेत् सर्वं सुवर्णखण्डाः सुवर्णकार्यञ्च सर्वं सुवर्णमिति सुवर्णज्ञाने तज्ज्ञानं भवति. तदर्थं “सदेव सौम्य” (तत्रैव६।२।१) इत्यारभ्य निरूपितम्. “ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्” (तत्रैव६।८।७) इति जडस्य सर्वस्यापि तदात्मकत्वम् उक्तम्. जडगतदोषाश्च तत्र परिहृताः “तत् सत्यम्” (तत्रैव) इति. पूर्वोत्तरयोः जड-जीवयोः सदात्मकत्वे, मध्ये हेतुम् आह “स आत्मा” (तत्रैव) इति. एवं जडस्य तदात्मकत्वम् उक्त्वा जीवस्यापि आह “तत्त्वमसि” (तत्रैव) इति. उपदेशश्च अयम्, “आवृत्तिसकृदुपदेशात्” (ब्रह्मसूत्र४।१।१) इति ब्रह्मसूत्रात्. अतः सम्पूर्णं महावाक्यम् उपदेशः. तत्र यथा “ऐतदात्म्यम्” (तत्रैव) इत्यत्र न भागत्यागलक्षणा सदंशे तथा उत्तरत्रापि चिदंशे अवगन्तव्यम्. नापि श्वेतकेतुः अवतारः, पूर्वं स्लब्धत्वादिदोषकीर्तनाद् विरोधाच्च. अतो ब्रह्मवाक्यत्वात् तदेकदेशः “तत्त्वमसि” इति जीव-ब्रह्मणोः ऐक्यं न बोधयति, वाक्यभेदप्रसङ्गाद् उपक्रमविरोधाच्च. केचिद् अष्टपदानि महावाक्यम् इति आहुः, तदपि तथा. “अतत्त्वमसि” इति छेदस्तु न वैदिकानां सम्मतः. अतो न अस्य विद्याजनने शक्तिः, अन्यार्थकीर्तनात्॥६१॥

कितनेक वादी “तत्त्वमसि” महावाक्यके अनुसार ब्रह्म-जीवकी एकता करिवेके अर्थ बिम्ब-प्रतिबिम्बकुं एक मानके, या दष्टान्तसों ब्रह्मकुं बिम्ब तथा जीवकुं प्रतिबिम्बरूप मानके जीव-ब्रह्म इन दोनोनकुं एक माने हैं. उनके मतको निराकण करे हैं.

“तत्त्वमसि” इतनोंसो वाक्य महावाक्य नहीं हे. क्योंके ये वाक्य श्वेतकेतूपाख्यानको हे जाके उपक्रममें एक पदार्थके ज्ञान होयवेंसो सब पदार्थको ज्ञान होवे हे एसी प्रतिज्ञा हे. ये बात तब बन सके जब एक पदार्थ सबरूप हो रह्यो होवे. जेसे

सुवर्णपिण्ड कण्ठा, कुण्डल, मुद्रिका आदि अनेक रूप हो जावे हे तो सुवर्णके ज्ञानमात्रसों सुवर्णनिर्मित सब आभूषण-पात्रादिकनको अपने आप ही ज्ञान होय जाय हे. या तरेहसुं सब जगतको ज्ञान करायवेके अर्थ “सदेव सोम्य” इत्यादी निरूपण कियो. ताके आगे “ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्” या वाक्यसों मात्र जड़ पदार्थनूके साथ ब्रह्मको तादात्म्यसम्बन्ध बतायो. अर्थात् जड़ पदार्थ ब्रह्मात्मक हे ये बात सिद्ध करी. तहां ये शङ्का भई जो जड़ पदार्थ ब्रह्मात्मक केसे होय सके हे, जड़ पदार्थ तो विनाश वारे होयवसों असत्य मालुम पडे हे. या शङ्काके दुर करिवेके अर्थ “तत् सत्यम्” ये पद कहे हैं. या करिके कार्यको सत्यत्व कहिके, सर्वदा कार्यकी सत्ता जताई. तथा विनाशादिक प्रतीत होवे हैं वे सब पदार्थके स्वरूपान्तर ही हैं. या प्रकार छे भावविकारनको परिहार कियो. तथापि जगत् ब्रह्मात्मक नहीं भयो क्योंकि जड़-जीव इन दोउ पदार्थनूको नाम ‘जगत्’ हे. तासों जड़कुं ब्रह्मात्मकता सिद्ध करिके जीवकी भी ब्रह्मात्मकता सिद्ध करिवेके अर्थ “तत्त्वमसि” ये वाक्य कह्यो हे. भावार्थ: या वाक्यसों जीवके साथ तादात्म्य सम्बन्ध ब्रह्मको बतायो हे. हे श्वेतकेतु तु ‘तत्’ ब्रह्मको भावरूप हे, अर्थात् ब्रह्मात्मक हे. अर्थात् जड़ पदार्थ ब्रह्मको कार्य हे तासों ब्रह्मात्मक हे ऐसे ही जीव ब्रह्मको अंश हे तासों ब्रह्मात्मक हे. कार्य जेसे कारणसु जुदो नहीं होय हे ऐसैं अंश अपने अंशीसों जुदो नहीं होय हे.

अब ये शङ्का भई के जड़-जीव दोनों न्यारे-न्यारे स्वभाव वारे पदार्थ हैं. ये दोउ एक-एक ब्रह्मात्मक केसे होय सके हे? या शङ्काकुं दूर करिवेके अर्थ पूर्वोत्तर जड़-जीवकी ब्रह्मात्मकता सिद्ध करिवे वारो मध्यमें हेतु कहे हैं “स आत्मा” अर्थ:वो परमेश्वर सबको आत्मा अर्थात् सबको स्वरूप हे. जेसे सोनाके बने भये दण्ड-कुण्डल-कण्ठा आदि पदार्थनूमें कण्ठासों कुण्डल न्यारे मालुम पडे हैं, दण्डसों कडा न्यारे मालुम पडे हैं परन्तु सोनासों दण्ड-कुण्डल-कडा आदि पदार्थ न्यारे नहीं होय सके हैं, क्योंकि उन पदार्थनूमेंसों सोना ले लियो जाय तो उन पदार्थनूको स्वरूप भी नहीं रहि सके हे क्योंकि सुवर्ण ही उन पदार्थनूको आत्मा अर्थात् स्वरूपभूत हे. याही प्रकार जड़ तथा जीव अलग-अलग दीखे हैं तथापि ब्रह्म सबको आत्मा हे, ब्रह्मसों न्यारे जड़-जीव कबहु होय नहीं सके हे. या रीतसों या महावाक्यमें जड़-जीवात्मक सब पदार्थनूकी ब्रह्मरूपता सिद्ध करिके एक ब्रह्मके ज्ञान होयवसों सबके ज्ञान होयवेकी प्रतिज्ञा सिद्ध करी तासों केवल “तत्त्वमसि” इतनो मात्र महावाक्य नहीं हे किन्तु सोलह पदको समुदाय महावाक्यहे.

तत्-त्वम्-असि ये तीन पद मानिवेमें भी सिद्धान्तमें कछू हानि नहीं हे. या पक्षमें भी अंश-अंशीको अभेदही पूर्वोक्त रीतीसों सिद्ध होवे हे.

कितनेक मत वारे “तत्त्वमसि” यहां भागत्याग लक्षणा करे हैं, सो भी पक्ष ठीक नहीं हे. जेसे सदंश जड़के ब्रह्मात्मबोधक “ऐतदात्म्यम्” या वाक्यमें भागत्यागलक्षणा नहीं हे वा प्रकार चिदंश जीवके ब्रह्मात्मबोधक “तत्त्वमसि” या वाक्यमें भी भागत्याग लक्षणा नहीं माननी.

कितनेक माध्वमतानुयायी कहे हैं कि श्वेतकेतु अवतार हतो तासों वेदमें वाके प्रति गुरुने “तु ब्रह्म हे” ऐसैं “तत्त्वमसि” या वाक्यमें उपदेश कियो हे ये भी अर्थ ठीक नहीं हे. श्वेतकेतु यदि अवतार होतो तो श्रुतिमें पूर्वमें वाकी स्तब्धता, वेद पढवेको अभिमान तथा अज्ञानादि दोषनूकों श्वेतकेतुमें वर्णन नहीं होतो.

शाङ्करभाष्यमें अष्टपदको महावाक्य माने हैं. वा पक्षमें भी पूर्वोक्त दूषण आवे हैं.

माध्वमतके एकदेशी ‘अतत्त्वम्’ एसो पद निकासके “हे श्वेतकेतु तुं ब्रह्म नहीं हे” एसो अर्थ करे हैंसो कोई वैदिकनूके सम्मत नहीं हे.

इतने विस्तारसों ये बात सिद्ध भई के “तत्त्वमसि” इत्यादि वाक्यकी ब्रह्माभेदको ज्ञान करिवेकी सामर्थ्य नहीं हे किन्तु ब्रह्मकी सर्वरूपता जतायवेके अर्थ वेदमें “तत्त्वमसि” इत्यादि वाक्य लिखे हैं॥६१॥

तदेव आह ब्रह्मणः सर्वरूपत्वम् इति.

ब्रह्मणः सर्वरूपत्वम् अवयुज्य निरूपितम्॥

अवयुज्य जड़-जीवौ पृथक्कृत्य. “सर्वं ब्रह्म” इति वक्तुं जीवस्य ब्रह्मता निरूपिता. ननु अस्तु वाक्यभेदः, तथा सति एतावन्मात्रं जीवस्य ब्रह्मतां बोधयति. तच्च साक्षाद् अनुपपन्नं सद् भागत्यागलक्षणया अखण्डमेव वाक्यार्थं बोधयति, इति चेत्, साधु बुद्धिमतां बकबन्धप्रयासो वृत्तः. उपदेशफलम् आयुष्मतां किं वृत्तम् इति अनुसन्धेयम्, ब्रह्मभावेन अधिकधर्माभावात्.

जड़-जीव दोउ पदार्थ परस्पर विलक्षण हैं ये जतायवेके अर्थ वेदमें जड़-जीवकुं अलग-अलग दिखाये परन्तु परस्पर जड़-जीव भिन्न हैं तथापि ब्रह्मसों भिन्न नहीं हे ये जतायवेके अर्थ जीवकी ब्रह्मात्मकता दिखाई हे. सम्पूर्ण वाक्य तो ब्रह्मकी सर्वरूपता सिद्ध करिवेके अर्थ वेदमें निरूपण कियो हे.

कितनेक आग्रही मायावादी वाक्यभेदकुं मान करिकें भागत्याग लक्षणाकुं भी अङ्गीकार करकें, तथा शब्दकु साक्षात् ज्ञान करायवे वारो मान करके “तत्त्वमसि” इतनेसे वाक्यकुं साक्षात् ब्रह्मको अनुभव करायवे वारो माने हैं. तहां उन वादिनसों पूछनो चाहिये के एसो मानिवेसों वादिनको कहा लाभ भयो? क्योंकि “तत्त्वमसि” या उपदेशसों कोइकु भी साक्षात् ब्रह्मज्ञान नहीं होतो दीखे हे. उपदेश भये पीछे भी वा जीवमें सर्वज्ञता आदि अधिक ब्रह्मधर्म कुछ मालुम नहीं पड़े हे, तासों याकु महावाक्य मानवेको प्रयास व्यर्थ ही हे.

कदाचित् कहोगे के जा जीवकु एसो उपदेश हो जायगो वो जीव आपुनको संसारसों तो जुदो मानेगो. तो संसार ही दोषरूप हे. वासों निवृत्त हो जानो ये ही लाभ होयगो. याको ये उत्तर हे के संसारसों निवृत्ति तो सांख्यशास्त्रद्वारा भी होय सके हे. क्योंकि सांख्यमें भी सब देहादि पदार्थनसों आत्माकों अलग मान्यो हे. तासों प्रकरणभेद मानके याकु महावाक्य मानवेको तुमारो श्रम वृथा ही हे.

देहादिभेदबोधनेनापि दोषनिराकरणसम्भवाच्च. ततो व्यर्थः प्रकरणभेदमपि अङ्गीकृत्य महावाक्यत्वेन उपदेशप्रयासः.

तर्हि श्रुतिः कथम् उपदिशति? इति चेत्, तत्र आह अलौकिकं तत्प्रमेयम् इति.

अलौकिकं तत्प्रमेयं न युक्त्या प्रतिपद्यते॥६२॥

लौकिकं हि लोकयुक्त्या अवगम्यते, ब्रह्म तु वैदिकम्. वेदप्रतिपादितार्थबोधो न शब्दसाधारणविद्यया भवति किन्तु अन्यत् साधनम् अस्ति इति आह तपसा इति.

कदाचित् कहोगे के तब श्रुति अभेदको उपदेश क्यों कर रही हे? ताको ये उत्तर हे. जेसैं “तत्त्वमसि” श्रुति अभेदको उपदेश कर रही हे तेसैं “तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व” (तैत्ति.उप.३।२) “धातुः प्रसादान् महिमानमीशम्” (महाना.उप.१०।१) इत्यादि श्रुति तपश्चर्या तथा भगवत्कृपा आदिसों ब्रह्म जान्यो जाय हे ये भी तो कह रही हे. तासों सब श्रुतिनकी एकवाक्यता करिवेसों ये बात सिद्ध होय हे के ब्रह्मको स्वरूप लौकिक युक्तिनसों नहीं जान्यो जाय हे, क्योंकि ब्रह्म तो वेदसोंही जान्यो जाय हे. ओर वेदके अर्थको बोध लौकिक युक्ति अथवा केवल व्याकरणादिकन् करिपे नहीं होय सके हे. वेदार्थ जानिवेके उपाय अन्य हु हैं, उनको निरूपण आगेके श्लोकमें करेंगे॥६२॥

तपसा वेदयुक्त्या च प्रसादात् परमात्मनः॥

विद्यां प्राप्नोत्युरुक्लेशः क्वचित् सत्ययुगे पुमान्॥६३॥

तपः पूर्वाङ्गं, वेदयुक्तिः सहकारिणी, भगवत्प्रसादो मुख्यं कारणम्. क्वचिद् देशविशेषे. सत्ययुगे काले. पञ्चाङ्गसम्पत्तौ वाक्यार्थबोधो भवति, अन्यथा “कं ब्रह्म, खं ब्रह्म” (छान्दो.उप.४।१०।५) इति उपाख्याने कथम् उपदेशमात्रेणैव बोधः, कथम् इदानीन्तनानां न बोधः॥६३॥

वेदार्थज्ञान पांच साधन होंय तब ही ठीक तरेहसुं होवे हे, तप हे सो प्रथम साधन हे. द्वितीय साधन वेदमें ब्रह्मज्ञान करायवेके अर्थ युक्तियें लिखी हे उन युक्तिनको ज्ञान होनो चाहिये. तीसरो साधन भगवत्कृपा होनी चाहिये, ये मुख्य कारण हे. चतुर्थसाधन देश अच्छो होनो चाहिये. पांचवो साधन काल अच्छो होनो चाहिये, जेसैं सत्ययुग. या प्रकार पांच अङ्ग जब मिल जावें तब वेदवाक्यनको अर्थ जान्यो जाय हे. तदुपरान्त वेदमें इन्द्र-प्रजापतिके संवादमें सो वर्ष ब्रह्मचर्य राखनो लिख्यो हे. या प्रकार बहुत श्रमसों वेदार्थज्ञान होवे हे. विना साधन यदि वेदके वाक्यनको अर्थज्ञान हो जातो होय तो “कं ब्रह्मेत्युपासीत खं ब्रह्मेत्युपासीत” (छान्दो.उप.४।१०।५) अर्थःकं ब्रह्म हे ऐसे उपासना करनी, खं ब्रह्म हे ऐसे उपासना करनी इत्यादि श्रुतिनके उपदेश करिकें हि साधन हीन अभीके मनुष्यनकुं ज्ञानसिद्धि क्यों नहीं होय जावे हे? तथा सत्ययुगादिकन्में जिनके सब साधन सिद्ध हते उनकुं उपदेशमात्र करिकेहीं कैसे ज्ञान हो जातो हतो?॥६३॥

इदानीन्तनानामपि बोधः, इति चेत्, तत्र आह सर्वज्ञत्वञ्च इति.

सर्वज्ञत्वं च तस्मैष्टं लिङ्गं तेजोऽप्यलौकिकम्॥

तत्प्राप्तावपि नो मुक्तिर् जाग्रत्स्वप्नवदुद्रवः॥

अविद्याविद्ययोस्तस्माद् भजनं सर्वथा मतम्॥६४॥

स्वार्थं सर्वज्ञत्वं लिङ्गं, परार्थम् अलौकिकं तेजः इति. ननु तथापि वाक्यार्थज्ञानएव ईश्वरप्रसादादेः भक्तेश्च उपयोगः उक्तः इति चेत्, तत्र आह तत्प्राप्तावपि नो मुक्तिः इति. उपनिषद्भिः महावाक्यार्थविद्याप्राप्तावपि ब्रह्मभावः सायुज्यं वा न तस्मै द्रष्टान्तेन तथाभावस्व कालपरिच्छेदात्. यथा जागरण-स्वप्नौ परस्पररोपमर्दनेन आविर्भवतः तिरोभवतश्च, तथैव विद्याऽविद्ये. अतो विद्योपमर्दनेन अविद्या पुनः आविर्भवविष्यतीति व्यर्थः प्रयासः. तस्मात् स्वतन्त्रभक्त्यर्थं सायुज्यार्थञ्च सर्वथा भजनं मतम्॥६४॥

कदाचित् कहोगे के अभीके मनुष्यनकुं ज्ञान नहीं होवे हे ये बात कैसे मालुम पडी? ताको ये उत्तर हे. सर्वज्ञ हो जानो तथा अलौकिक तेज हो जानो ज्ञान होयवेको लक्षण हे. अभी वेद पढवे वारेन्में सर्वज्ञता तथा अलौकिक तेज कछु भी नहीं होय हे. तासों अभीके मनुष्यनकुं वेदार्थको बोध नहीं होय हे ये निश्चय भयो.

आशङ्का : वेदार्थके ज्ञान होयवेमें भगवत्कृपा कारण हे ओर भगवत्कृपा भक्ति होय तब होय. या रीतिसों ब्रह्मके साथ अभेदको ज्ञान होयवेमें भक्तिको उपयोग भयो. अर्थात् भगवदनुग्रह तथा भक्ति को उपयोग भी वैदिक वाक्यनके अर्थके ज्ञानमें ही हे या प्रकारकी शङ्का होती होय तो वाके समाधानमें कहे हैं:

उत्तर : भगवत्कृपासों उपनिषदन् करिके महावाक्यार्थ विद्याकी प्राप्ति भये पीछे भी अर्थात् वेदोक्त ज्ञान भये पीछे भी अधिकारके अनुसार सायुज्यमुक्ति अथवा ब्रह्मभाव प्राप्त होयवेके अर्थ भक्ति अवश्य करनी चाहिये, क्योंके ज्ञानको तिरोभाव होयके अज्ञान प्रकट हो जाय तो ज्ञानके अर्थ कियो भयो परिश्रम व्यर्थ होय जाय. जेसे सतोगुणके उदय होते ही मनुष्य जाग जाय हैं, तमोगुणके उदय होते ही सो जाय हैं, तेसैं ही सतोगुणके उदयसों ज्ञान हो जाय हे, तमोगुणके उदयसों अज्ञान हो जाय हे. भक्तिसों तो ज्ञान-अज्ञान (विद्याअविद्या) के कारणभूत मायाकी भी निवृत्ति हो जाय हे “मायामेतां तरन्ति ते” (भग.गीता७।१४) ऐसे या वाक्यमें स्पष्ट लिख्यो हे. तासों ज्ञानीकुं तथा अज्ञानीकुं स्वतन्त्रभक्ति सिद्ध होयवेके अर्थ तथा

सायुज्य-ब्रह्मभावके अर्थ अवश्य भगवद्भक्ति करनी चाहिये. या प्रकार जीव प्रकरणकुं समाप्त करिकें परब्रह्मको निरूपण करे हैं॥६४॥
